डॉ. सुधा ओम ढींगरा

विदेशों में लिखा जा रहा साहित्य एक नए अस्तित्व बोध व आत्म बोध का साहित्य है

बचपन में सुना था, परिवार दो तरह के होते हैं। एक जन्म से मिलता है, दूसरा बाद में बनता है। मेरा मन शुरू से ही बेहद जिज्ञासु रहा है। छुटपन में सुनी बहुत सी बातें बड़े होने पर मैं समझने की कोशिश करती थी। ज्योंही मैंने युवावस्था में पग धरा, इस बात को जानने की उत्सुकता जाग्रत हुई कि दो तरह के परिवार कैसे होते हैं? परिवार तो एक ही होता है। खून के रिश्तों के साथ मुँह बोले और दिल से स्वीकृत रिश्ते जब जुड़ जाते हैं तो परिवार का विस्तार हो जाता है; पर परिवार दो नहीं होते। जीवन की तेज रफ़्तार ने अनुभव भी मेरी झोली में तेजी से डाले। एक के बाद एक खून के रिश्ते छूटते गए और मुँह बोले रिश्ते साथ जुड़ गए। अब दिल के रिश्तों का ही परिवार है मेरा। बचपन में सुनी बात अब समझ में आई। डॉ. कमल किशोर गोयनका, जिनसे मैं आपका परिचय करवाने जा रही हूँ, मेरे दूसरे परिवार से हैं।

उनसे की गई बातचीत को जब मैं स्वरूप देने लगी तो कई सुधियाँ कतार बाँध कर खड़ी हो गईं। जालंधर के वे दिन याद आ गए; जब पापा जीवन-मृत्यु के बीच संघर्ष कर रहे थे और मैं अमेरिका में अपना घर- परिवार छोड़ कर वहाँ उनकी देख-भाल कर रही थी। बड़े भैया की अकस्मात् मृत्यु से पूरा परिवार शोक संतप्त था। हम दो बहन-भाई ही थे। एक वर्ष बाद जब पापा मृत्यु शैया पर आए तो मैं भावनात्मक स्तर पर पूरी तरह से टूट गई शायद बिखर गई थी; जिसे डॉ. गोयनका ने भाँप लिया था। प्रतिदिन डॉ. साहब का फोन आता और मुझे प्रोत्साहित करने के लिए घंटों बातें करते। पापा के जाने के बाद उन्होंने संवेगों से भीगा हाथ मेरी पीठ पर रखा और कहा- कभी नहीं सोचना तुम्हारा कोई नहीं। वह हाथ आज भी मेरी पीठ पर है।

जीवन की धूप-छाँव में वही हाथ मैं आज भी अपनी पीठ पर महसूस करती हूँ। पत्रिका की कोई समस्या हो या साहित्यिक मोर्चे पर कोई गतिविधि, हर तरह से उन्होंने मेरा मार्ग दर्शन किया है। रात हो या दिन जब भी फोन किया, डॉ. साहब ने प्रसन्नता से बात की। बातचीत में वे सखा बन जाते हैं और उन्हें पता है कि मैं खुल कर हँसती हूँ और कोई बात वे ऐसी जरूर करेंगे; जिससे मेरा कहकहा लगे। निःसंकोच कहूँगी कि पत्र लिखना उन्होंने ही मुझे सिखाया। मैं पत्र लिखने से बहुत कतराती थी और मैं अपनी इस कमज़ोरी को समझती भी थी पर उसे दूर करने की कभी कोशिश नहीं की। उपन्यास, कहानी व लेख पढ़कर उसके लेखक को मैं कभी कुछ नहीं लिखती थी; हालाँकि उस पर चर्चा खूब करती थी। डॉ. गोयनका ने हर बार मुझे पत्र लिखने के लिए प्रेरित किया, जब-जब मैंने उनसे किसी कृति या पत्रिका की तारीफ़ की। उन्हीं की शिक्षा का परिणाम है कि आज मैं पत्राचार में रुचि लेती हूँ चाहे वह ईपत्र ही हो।

डॉ. साहब का पहला फोन कैसे भूल सकती हूँ; जो न्यूजर्सी से उन्होंने किया था। वे अपने बेटे के पास आये हुए थे और डॉ. अंजना संधीर ने उन्हें मेरा फोन नंबर दिया था। परिचय होते ही हम सहज हो गए; प्रेमचंद हम दोनों के प्रिय

ISSN 2320-7728

प्रेरणा स्त्रोत थे जिन्होंने आप को साहित्य- पथ का पथिक बनाया।

सुधा जी, आप ठीक कहती हैं, मेरा जन्म एक मारवाड़ी परिवार में हुआ जो व्यापारी था और पुश्तैनी जमींदारी थी, परन्तु बी.ए. के शिक्षण काल से ही मुझमें साहित्य के संस्कार उत्पन्न होने लगे। मेरे पिता जी का बड़ा पुस्तकालय था और मेरे माता -पिता को स्वाध्याय का बड़ा शौक था। मैंने इस पुस्तकालय से धार्मिक और सामाजिक साहित्य पढ़ा और 'मर्यादा', 'प्रभा', 'चाँद', 'माधुरी', 'हँस' आदि अनेक पत्र -पत्रिकाएँ तो पढ़ी हीं।

लेखक हैं और बातचीत का केंद्रबिंदु वही थे। डॉ. साहब और प्रेमचंद तो घुलेमिले हैं और एम.ए. में मेरा शोध पत्र प्रेमचंद के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना' पर था। बातचीत प्रेमचंद से शुरू हुई और आज भी हम उनके बारे में बात जरूर करते हैं, कभी प्रेमचंद की किसी कहानी पर या डॉ. कमल किशोर गोयनका की पुस्तक प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन को लेकर। प्रेमचंद से इतर प्रवासी साहित्य को लेकर हमारा खूब विमर्श होता है। हिन्दी का प्रवासी साहित्य' ग्रन्थ डॉ. साहब का सराहनीय कार्य है।

डॉ. गोयनका के मैंने कई इंटरव्यू लिए, उन्हें खूब कुरेदा, उनसे अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर तलाशे। चिंतन के लिए दूरभाष पर लम्बा-लम्बा वार्तालाप हुआ। वे हमेशा सहज-सरल, शांत, गम्भीर, संतुलित रहे। कभी उग्र या उत्तेजित नहीं हुए। मेरे किसी प्रश्न पर तल्ख़ नहीं हुए। मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा है और अभी भी सीख रही हूँ। मेरी कहानियों, कविताओं के पहले आलोचक और समीक्षक हैं। निष्पक्ष राय देते हैं। लिखने के लिए खूब प्रेरित करते हैं। महीने में एक बार तो फ़ोन पर बात होती ही है। डॉ. गोयनका जी के व्यक्तित्व का एक और हिस्सा; जिसे देख कर मैं दंग रह जाती हूँ, नाजुक से नाजुक परिस्थितियों में उनका गज़ब का मानसिक संतुलन। बेहद विनम्र डॉ. कमल किशोर गोयनका की सरलता और सादगी को नमन करते हुए, प्रस्तुत है उनसे हुई बातचीत-

गोयनका जी, आप का जन्म तो एक मारवाड़ी परिवार में हुआ, फिर साहित्य की तरफ़ आप का रुझान कैसे हुआ ? वे कौन से आरंभिक

मैं समझता हूँ, साहित्य की ओर आने की प्रवृत्ति ईश्वर ने ही प्रदान की, किन्तु इस पारिवारिक परिवेश ने उसे मजबूत बनाया। बी.ए. करते समय एक कवि-गोष्ठी में जय शंकर प्रसाद बना था और 'आँसू' के कुछ पदों का मैंने पाठ किया था। बस साहित्य प्रेम ही दिल्ली ले आया और हिन्दी साहित्य से एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके उपरांत वर्ष 1962 में मैं दिल्ली का प्राध्यापक बना और फिर साहित्य ही मेरा जीवन बन गया।

आपने अपने साहित्य प्रेम को पहचाना, और साहित्य आप का जीवन बन गया, परन्तु अध्ययन और अनुसन्धान का विषय 'प्रेमचंद' ही क्यों चुना ?

मुझे अब लगता है कि नियति ने ही मुझे इसके लिए चुना था। मैं एम.ए. (1961) करने के बाद पीऍच. डी. के लिए शोध विषय के चयन की समस्या से जूझ रहा था। उस समय डॉ. नगेन्द्र हिंदी-विभाग के अध्यक्ष थे और उनसे बातचीत करने में विद्यार्थी डरते थे। मेरे प्रति वे कुछ उदार थे, क्योंकि मैं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ था। मैंने आप को बताया है कि मैं जयशंकर प्रसाद का प्रेमी था और मैंने बातचीत में उनसे जयशंकर प्रसाद पर कार्य करने का प्रस्ताव

ISSN 2320-7728

किया, किन्तु वे तैयार नहीं हुए। इस पर मैंने उन्हें प्रेमचंद पर कार्य करने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने मुझसे कुछ विषय लिखकर लाने को कहा तो मैंने प्रेमचंद पर उन्हें सोलह विषय लिख कर दिए और उन्होंने 'प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान' विषय पर अपनी स्वीकृति प्रदान की। डॉ. नगेन्द्र के इस निर्णय ने मेरा भविष्य तय कर दिया, किन्तु मैं पीएँच. डी. करने के बाद अन्य शोधार्थियों की तरह चुप बैठने को तैयार नहीं था।

तो आप ने अन्य शोधार्थियों से अलग क्या किया?

मुझे सन् 1972 में पीएँच.डी. की उपाधि मिली और कुछ समय बाद ही 'प्रेमचंद : विश्वकोश' (पांच खंड) की योजना की परिकल्पना की और प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय का सहयोग लिया और प्रेमचंद की अज्ञात अप्राप्य रचनाओं, पत्रों, पाण्डुलिपियों, दस्तावेजों की खोज में लग गया। इसके आरभ में गंगाप्रसाद विमल भी मेरे साथ थे, परन्तु वे प्रगतिशील थे और उस समय नए-नए बने प्रगतिशील डॉ. सुधीश पचौरी ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के एक अधिवेशन में मुझ जैसे 'गाय छाप' तथा हिन्दू के साथ सहयोग करने पर उनकी भर्त्सना की और कहा कि विमल को उस अपराध में 'प्रगतिशील लेखक संघ' से निकाल बाहर करना चाहिए। इस पर विमल इतने भयभीत हुए कि उन्होंने मेरा साथ छोड़ दिया। यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। यदि विमल मेरे साथ रहते तो उनकी तथाकथित प्रगतिशीलता बाधक ही बनती। मैं अब पूरी तौर पर प्रेमचंद के प्रति समर्पित हो गया और मेरे मन में प्रेमचंद को लेकर तरह-तरह की कल्पनाएँ जन्म लेने लगीं। इसके बाद 'प्रेमचंद- विश्वकोश' (दो खंड) सन् 1981 में छपे और जितना व्यापक उसका स्वागत हुआ, उसने तो मुझे हमेशा के लिए प्रेमचंद का बना दिया।

चलो अनुसन्धान के लिए प्रेमचंद जी को चुन लिया पर आप ने तो जीवन की हर ऋतु प्रेमचंद साहित्य को दे दी। ऐसा क्या है प्रेमचंद साहित्य में। आजकल तो इस पर बहुत से आक्षेप लगाये जा रहे हैं और कई तरह की भ्रांतियाँ फैलाई जा रही हैं।

आपके इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ ? मैंने प्रेमचंद पर काम करते समय यह कभी नहीं सोचा कि मेरे जीवन की कितनी ऋतुएँ, कितने वसंत व्यतीत हो गए। धुन थी तो यही कि यह काम पूरा होना चाहिए जिससे दूसरे काम पर लगूँ। अब जब मैं 78 वर्ष का हो रहा हूँ तो समय का, ऋतु का बोध अवश्य रहता है कि समय अब कम है और काम बहुत है। किसी भी बड़े काम में आपको अपनापन, अपना अस्तित्व एवं काल- बोध विस्मृत करना होता है। संभवतः

राजेन्द्र यादव लिखते हैं :

गोयनका ने सचमुच बड़ी मेहनत और परेशानियाँ उठाकर उनकी रचनाओं को खोजा और सुलभ कराया है। हजारों पृष्ठों की अब तक अनुपलब्ध सामग्री को सामने लाने में निश्चय ही उन्हें ऐसी भी चीजें मिली हैं जो प्रेमचन्द की स्थापित तस्वीर का समर्थन नहीं करतीं। सचमुच मेरी समझ में नहीं आता कि अगर गोयनका अपनी शोध से कुछ ऐसी बातें सामने ला रहे हैं जो मूर्ति-पूजक, अंध-श्रद्धालुओं के गले नहीं उतरतीं तो बुरा क्या है? निर्मल कुमार बोस अगर गांधी जी के संकट प्रयोगों पर कुछ बताते हैं तो वे उन्हें अधिक मानवीय ही बनाते हैं। हमें शुक्रगुजार होना चाहिए कि वे जीते-जागते आदमी को भगवान बनाये जाने से रोक रहे हैं। भगवान होते ही व्यक्ति ऐसा अशरीरी और निराकार 'नाम' रह जाता है जिसकी सिर्फ पूजा की जा सकती है। हमारे लिये वह प्रेरणा और आदर्श अभी तक है, जब तक हमारे जैसा 'काम-क्रोध, लोभ-मोह' का पुतला और इनसे लड़ता हुआ मनुष्य है। इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि भारतीय साहित्यकारों की जीवनी पर बहुत ही कम काम हुआ है। गोयनका ने भी प्रेमचंद की जीवनी नहीं, साहित्य और साहित्यिक व्यक्तित्व की ही अनदेखी सामग्री का अनुसंधान किया है। जितने परिश्रम, निष्ठा, लगन और साधना के साथ वदेशों में साहित्यकारों पर शोध होती है वह तो हमारे लिये अकल्पनीय है, मगर हिन्दी साहित्य या विशेष रूप से प्रेमचंद साहित्य के शोधार्थियों को उसी तरह की शोध की एक झलक देने के लिये हमें गोयनका का कृतज्ञ होना चाहिए।

'हंस' , अगस्त, 1989 में प्रकाशित लेख 'सिर्फ आधार सामग्री' से।

ISSN 2320-7728

इसे ही समाधि की दशा कहा गया है। इसमें जन्म-मृत्यु, रात-दिन आदि की चेतना विलुप्त हो जाती है और बस काम ही काम और लक्ष्य ही ध्यान में रहता है। यह स्थिति इसलिए बनी कि प्रेमचंद-साहित्य आपको अपने में लीन कर लेता है, आप प्रेमचंदमय हो जाते हैं, प्रेमचंद को जब आप उनकी दृष्टि से देखते हैं और अपने विचारों का उन पर आरोपण नहीं करते तो प्रेमचंद अपने सारे दरवाजे खोलकर आपके मन में बैठ जाते हैं फिर आप प्रत्येक वस्तु में उनकी ही छवि देखते हैं। कालिदास, तुलसीदास और प्रेमचंद का साहित्य ऐसा ही है जिसमें गहरे उतर कर ही मोती तलाश किए जा सकते हैं। जहाँ तक प्रेमचंद पर लगे आक्षेपों और फैलाई जाने वाली भ्रांतियों का सवाल है, ऐसा अधिकांश बड़े लेखकों के साथ होता है। अज्ञेय को हिंदी के प्रगतिशील लेखक उन्हें व्यक्तिवादी तथा अमेरिकन एजेंट कहते रहे हैं, किन्तु डॉ. नामवर सिंह जैसे प्रगतिशील भी उन्हें बड़ा लेखक मान रहे हैं। प्रेमचंद पर दलित लेखक कई प्रकार के आरोप लगा रहे हैं उन्होंने 'रंगभूमि' उपन्यास को जलाया भी, किन्तु प्रेमचंद की महानता और कालजयीत्व अक्षुण्ण रहेगा। उन जैसा कोई दूसरा लेखक हिंदी में क्या, किसी भारतीय भाषा में नहीं है।

आप के प्रेमचंद सम्बन्धी शोध कार्यों से देश- विदेश में आप को खूब प्रतिष्ठा मिली, किन्तु भारत के कुछ प्रगतिशील लेखकों ने आप के कार्य की या तो उपेक्षा की है या उसकी तर्कहीन आलोचना की है। इन प्रगतिशीलों का आप के प्रति ऐसे आक्रोश तथा उपेक्षा का क्या कारण है ?

सुधा जी, आप ठीक कहती है कि मेरे प्रेमचंद संबंधी कार्यों की देश-विदेश में खूब प्रशंसा हुई है। भारत में जैनेन्द्र, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, चन्द्रकान्त वांदिवडेकर, विष्णु कान्त शास्त्री, कल्याणमल लोढ़ा, अमृतराय, अमृत लाल नागर, इंद्रनाथ मदान, रमेशकुंतल मेघ, गोपाल राय, देवेश ठाकुर, पुष्पपाल सिंह, विनय, मृणाल पाण्डे और न जाने कितने लेखकों ने मेरे कार्यों पर लिखा है और विदेश में इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी ने अपनी 'प्रेमचंद' पुस्तिका (1980) में, प्रो.गोविन्द नारायण ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'मुंशी प्रेमचंद'(1978) में जो अमेरिका बोस्टन स्थित प्रकाशन जी. के. हॉल एंड कंपनी ने प्रकाशित की थी, प्रेमचंद के विशेषज्ञ के रूप में मेरा उल्लेख किया है। ध्यान रहे, तब तक मेरा 'प्रेमचंद:विश्वकोश' (1981) छपा नहीं था। जर्मनी के प्रो- लोथार लुत्से के आग्रह पर मेरी एक पुस्तक' 'प्रेमचंद: शतरंज के खिलाड़ी' के वे सह लेखक बने जो प्रेमचंद शताब्दी वर्ष 1980 में पूर्वोदय प्रकाश नई दिल्ली से छपी थी। सुधा जी, डॉ. लुत्से से मेरी भेंट कोलकत्ता में हुई थी। 1979 में और वे मेरे प्रेमचंद सम्बन्धी कार्यों के प्रशंसक बन चुके थे। जर्मनी में हिंदी प्रोफेसर तातियाना ओरन स्केइया ने सन 2004 में मेरे पर एक लेख लिखा था जो जर्मन पत्रिका में छपा था। इटली के प्रोफेसर अमबर्टो नरदेला (नेपल्स, इटली) ने 'कफ़न' कहानी के अंग्रेज़ी अनुवादों पर एक पुस्तक इटेलियन भाषा में लिखी; जिसका इटेलियन में शीर्षक है--'IL RACCONTO PIU FAMOSO DELLE LETTERATURE URDU E HINDI KA FAN'। इसका प्रकाशन नेपल्स से 1998 में हुआ और 278 पृष्ट की यह शोध-पुस्तक मेरे द्वारा प्रदत्त सामग्री के आधार पर लिखी गई। मॉरिशस में अभिमन्यु अनत ने वहाँ के अंग्रेजी- हिंदी अखबारों एवं पत्रिकाओं में मेरे साहित्यिक कार्यों पर लेख लिखे। यह मैंने आप को एक संक्षिप्त-सा विवरण दिया है, प्रगतिशीलों के आक्रोश का एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्होंने प्रेमचंद पर जो मार्क्सवादी एकाधिकार बनाया था, जो तथ्यहीन एवं तर्कहीन मिथक गढ़े थे, मेरे शोध निष्कर्षों से छिन्न-भिन्न हो गए। विगत कई दशकों से प्रत्येक प्रगतिशील एक ही प्रकार की व्याख्या करता था, कोई नई बात कहने की संभावना ही समाप्त कर दी थी। ये नहीं चाहते थे कि प्रेमचंद पर कोई अप्रगतिशील काम करे और उनके भ्रामक निष्कर्षों तथा प्रेमचंद को इस्तेमाल करने की राजनीतिक साजिश को निरावृत करे। प्रगतीशीलों ने मेरे साथ कुछ नया नहीं किया। इन्होंने हिंदी के अनेक लेखकों का ऐसा ही चरित्र हनन तथा अपमान किया है। यहाँ तक कि उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री तक को अपमानित किया और उनकी निंदा की।

प्रेमचंद के बाद आपने प्रवासी साहित्य पर काम किया है। प्रवासी साहित्य पर कई पुस्तकें और 'हिन्दी का प्रवासी साहित्य' ग्रन्थ भी लिखा है। जिज्ञासा है कि आप का रुझान और लगाव हिन्दी के प्रवासी साहित्य के प्रति कैसे हुआ ?

हुआ यह कि वर्ष 1980 में प्रेमचंद जन्म-शताब्दी पर मैंने दिल्ली में' प्रेमचंद जन्म - शताब्दी राष्ट्रीय समिति' का गठन किया। जैनेन्द्र कुमार इसके अध्यक्ष थे और मैं महामंत्री तथा तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इन्द्रा गाँधी इसकी संरक्षक थीं। मेरी प्रेरणा से मॉरिशस में प्रेमचंद जन्म-

ISSN 2320-7728

शताब्दी का समारोह आयोजित हुआ और भारत सरकार ने मुझे और जैनेन्द्र को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा। मैंने मॉरिशस में प्रेमचंद के मूल दस्तावेजों, पत्रों, पांडुलिपियों, फोटोग्राफों की एक प्रदर्शनी लगाई जिसका उद्घाटन प्रधानमंत्री डॉ.शिवसागर राम गुलाम ने किया। इसी समय मेरी भेंट अभिमन्यु अनत तथा अन्य प्रतिष्ठित लेखकों से हुई। वहाँ मैं हिन्दी लेखकों के प्रेम से इतना अभिभूत हुआ कि लौटते समय मैंने संकल्प किया कि मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के भारत में प्रचार-प्रसार तथा प्रतिष्ठा के लिए जीवन- पर्यन्त काम करता रहूँगा। उसके बाद मैं आज तक मॉरिशस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, सूरीनाम, आदि देशों में भारतवंशियों द्वारा हिन्दी में रचे साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा प्रतिष्ठा के लिए निरन्तर काम करता रहा हूँ। हिन्दी के प्रवासी साहित्य से मुझे प्रेमचंद जैसा ही प्रेम हो गया है।

संभवतः आप अकेले ऐसे आलोचक और शोधकर्मी हैं जो विदेशों में रचे जा रहे हिन्दी साहित्य को इतनी गंभीरता से लेते हैं। विदेशों में रचे जा रहे हिन्दी साहित्य को प्रवासी साहित्य कह कर मुख्य धारा से दूर किया जा रहा है। विदेशों में हिन्दी के बहुत से लेखक प्रवासी साहित्यकार कहलवाना पसंद नहीं करते, साहित्य कभी प्रवासी नहीं होता। इन्सान प्रवास में रहता है। भारतवंशी सोचते है कि प्रवासी साहित्यकार कह कर उन्हें हाशिये पर डाला जा रहा है, उनका मूल्याँकन सही नहीं हो रहा। आप ने प्रेमचंद और प्रवासी साहित्य पर अपना जीवन होम कर दिया। आप उनकी इस वेदना को कहाँ तक महसूस करते है----?

यह सही है कि प्रेमचंद के बाद मैंने प्रवासी साहित्य पर विशेष कार्य किया है। हिंदी में मैं पहला लेखक हूँ जिसकी 6 पुस्तकें हिंदी के प्रवासी साहित्य पर प्रकाशित हुई हैं --'अभिमन्यु अनतः एक बातचीत (1985), 'अभिमन्यु अनतः समग्र कविताएँ (1998)', अभिमन्यु अनतः प्रतिनिधि रचनाएँ (1999), मारीशस की हिंदी कहानियाँ' (2000), मारीशस के राष्ट्र-कवि ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर' काव्य-रचनावली (2003) तथा 'हिंदी का प्रवासी साहित्य'(2011)। इन छः पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने हिंदी के प्रवासी लेखकों की लगभग तीस पुस्तकों की भूमिकाएँ, अनेक लेखकों पर लेख एवं उनकी पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखी हैं। मैंने भारत से निकलने वाली पत्रिकाओं - 'साक्षात्कार' (भोपाल), 'शब्द योग' (नई दिल्ली), 'राजभाषा मंजूषा' (नई दिल्ली), 'बुलंद-प्रभा' (बुलंद शहर, उत्तरप्रदेश) आदि के प्रवासी साहित्य विशेषांक निकलवाये हैं और कुछ अन्य पत्रिकाएँ भी मेरी प्रेरणा पर ऐसे ही विशेषांक निकाल रही हैं। मैं यहाँ यह बात स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जो विवरण मैंने आप को बताया है आत्म प्रशंसा के लिए नहीं है, बल्कि ये बताने के लिए है कि कितनी दिशाओं में प्रवासी साहित्य के विकास और उसकी प्रतिष्ठा के लिए काम हो रहा है।

गोयनका जी जिस विषय पर हम बात कर रहे हैं उसकी जानकारी हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। आप के विवरण को कोई अन्यथा नहीं लेगा-----

अब मैं आपके प्रवासी साहित्य के नामकरण तथा उस पर कुछ प्रवासी लेखकों की आपत्ति के प्रश्न को लेता हूँ। मुझे मालूम है कि कुछ लेखकों ने यह आपत्ति उठाई है कि

ISSN 2320-7728

साहित्य प्रवासी नहीं होता और प्रवासी कहकर आरक्षण माँगना अनुचित है। मैं कई ऐसे प्रवासी साहित्यकारों को जानता हूँ जो प्रवासी संकलनों में छपते हैं, छपना चाहते हैं पर प्रवासी साहित्यकार कहलाना पसंद नहीं करते, इसके लिए बड़े -बड़े वक्तव्य देते हैं, पर यह दोहरी नीति क्यों ?

यह ठीक है, साहित्य प्रवासी नहीं होता, किन्तु उसका लेखक प्रवासी है और प्रवासी लेखक के रचे साहित्य को प्रवासी कहना क्यों अनुचित होना चाहिए ? असल में विदेशों में भारतवंशियों द्वारा रचे साहित्य के लिए प्रवासी साहित्य इतना प्रचलित तथा लोकप्रिय हो गया है कि अब उसका प्रयोग बन्द करना कठिन है। वैसे ही 'प्रवासी' शब्द से इस साहित्य को हाशिये पर डालने तथा आरक्षण की सुविधा देने के लिए नहीं है। यह तो इस साहित्य की पहचान और विशिष्टता के लिए है। 'प्रवासी' शब्द लेखकों के अपमान के लिए नहीं उनके सम्मान के लिए है। उनकी अलग पहचान के लिए है और उनके स्वतंत्र मूल्यांकन की परंपरा को आरंभ करने के लिए है। हिंदी के अधिकांश प्रवासी लेखकों को उस प्रवासी शब्द पर आपत्ति नहीं है। वे अपनी विशिष्टता के साथ हिंदी की मुख्य धारा के अंग बने रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे क्यों अपनी पहचान, अपना अस्तित्व मुख्य धारा में विलीन करना चाहेंगे ?

यहाँ मैं आप से सहमत नहीं--हिंदी के अधिकांश भारतवंशी लेखकों को प्रवासी शब्द पर आपत्ति है। विदेशी भाषाओं में 'प्रवासी' शब्द साहित्य के लिए प्रयोग नहीं किया जाता। अंग्रेज़ी में किसी भी देश में बैठ कर लिखा गया साहित्य अंग्रेज़ी साहित्य होता है। मैं ऐसे बहुत से फ्रेंच लेखकों को जानती हूँ, जो अमेरिका में बैठ कर फ्रांसीसी भाषा में लिखते हैं पर वे प्रवासी फ्रांसीसी लेखक नहीं सिर्फ फ्रेंच लेखक कहलवाए जाते हैं। हिन्दी साहित्य में ऐसा क्यों है --?

मैं आपकी बात से सहमत हूँ कि विदेशी भाषाओं के प्रवासी लेखकों के साहित्य को उन देशों में प्रवासी-साहित्य नहीं कहा जाता है। मेरा ज्ञान सीमित है, परन्तु रूस, चीन, जापान की क्या स्थिति है कह नहीं सकता। किन्तु हिंदी में प्रवासी लेखकों के साहित्य को यदि प्रवासी-साहित्य कहा जाता है तो यह हिंदी का तथा साहित्य का अपमान कैसे हो गया? हिंदी का प्रवासी साहित्य अपनी अलग पहचान चाहता है और हिंदी साहित्य की मुख्य धारा का भी अंग बने रहना चाहता है। यह ऐसे ही है, जैसे छायावाद, प्रगतिवाद, नई कविता तथा कथा साहित्य में आंचलिक उपन्यास, नई कहानी, सचेतन कहानी, समाँतर कहानी आदि अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ हिंदी साहित्य का हिस्सा बनी रही। प्रवासी साहित्य के रचनाकार भारत के हिंदी रचनाकारों की तुलना में भिन्न परिस्थितिओं, भिन्न परिवेश तथा भिन्न संवेदनात्मक संसार में जीते हैं। उनके सम्मुख रचनात्मक दबाब तथा रचनात्मक सरोकार भी भिन्न- भिन्न हैं।

मॉरिशस के हिंदी लेखकों की पीढ़ी तो उसी देश में जन्मी हैं, अतः वे अपने पूर्वजों के देश की अपेक्षा अपने देश की समस्याओं और तनावों में अधिक उलझे हुए हैं और उनकी रचनाओं में उनका देश अधिक बोलता है। वे हिंदी में लिख रहे हैं, इसलिए वे हिंदी के साहित्यिक समाज के हैं, लेकिन प्रवासी साहित्य की उनकी अलग पहचान को हम मिटा नहीं सकते। अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों के प्रवासी हिंदी लेखकों की पहली पीढ़ी ही रचना- कर्म में संलग्न है। ये वे भारतीय हैं जो उच्च-शिक्षा अथवा अच्छी नौकरी के लिए इन देशों में गए हैं। वहाँ आजीविका तथा सामाजिक जीवन अंग्रेजी भाषा से चलता है और ये रचना करते हैं अपनी मातृभाषा हिंदी में। यह स्थिति उन्हें भारत के हिंदी लेखकों से नितांत अलग बनाती है। ये चाहते तो अंग्रेजी भाषा में रचना कर सकते थे, लेकिन भाषा तथा देश-प्रेम उन्हें हिंदी भाषा की ओर ले जाता है और वे स्वदेश-परदेश के द्वंद्व में अपने रचनात्मक क्षणों को जीते हैं तथा मनोभूमि और संवेदात्मक संसार की सृष्टि करते हैं।

गोयनका जी, अभी आपने कहा मॉरिशस के हिन्दी लेखक तो क्या प्रवासी लेखकों को अमेरिका के हिन्दी लेखक, इंग्लैण्ड के हिन्दी लेखक, आस्ट्रेलिया के हिन्दी लेखक नहीं कहा जा सकता--भारतवंशी भी अपने देश और मातृभूमि से उसी तरह जुड़े हुए हैं जैसे भारतवासी---देश छोड़ देने से नाता और मोह तो नहीं छूट जाता।

इस प्रवासी साहित्य में निश्चय ही नॉसटेल्जिया है। अपने देश के जीवन और परिवेश से टूटकर दूसरे अनजान देश में जाकर रहने में अपनी मातृभूमि, परिवार, घर और साथियों की याद आना स्वाभाविक है। सुधा जी इस बात को मैं महसूस कर सकता हूँ कि अपना स्वदेश कितना ही अभिशप्त हो, लेकिन परदेश में वह भी प्रिय लगने लगता है। इस प्रकार प्रवासी लेखक के अंतर्मन में स्वदेश रहता है और

ISSN 2320-7728

उसका वर्तमान परदेश में जीता है। ऐसा लेखक दोहरा जीवन जीता है और इन दोहरे तनावों को, दोहरी संवेदनाओं को अपनी लेखनी से अपनी मातृभाषा में अभिव्यक्त करता है। अपने देश से निष्कासन और परदेश की स्वीकृति -अस्वीकृति में अनिश्चयता उसे और भी अंतर्द्वन्द्व तथा और भी मनोवैज्ञानिक दबाव में घेर लेती है। इस दोहरी मानसिकता का साहित्य केवल प्रवासी लेखक ही लिख सकता है और यदि इस कारण उसे प्रवासी-लेखक तथा प्रवासी-साहित्य कहा जाता है तो कुछ प्रवासी लेखकों को क्यों आपत्ति होती है। कुछ प्रवासी लेखक इस विशिष्टता को, इस नामकरण को आरक्षण देना मानते हैं किन्तु मुझे ज्ञात नहीं हैं कि किसी प्रवासी लेखक ने आरक्षण की माँग की हो। जो स्वयं को कमजोर मानता हो या वास्तव में कमजोर हो, दुर्बल हो, अविकसित हो, वह स्वयं के लिए आरक्षण माँगता है। प्रवासी हिंदी लेखक यह तो चाहता है कि उसे पढ़ा जाए, उसकी पहचान की जाए, किन्तु उसने कभी स्वयं को कमजोर एवं दुर्बल कहकर आलोचकों से आरक्षण की माँग नहीं की। अतः उसे स्तरहीन कहना अथवा आरक्षण माँगने वाला साहित्य कहना उसके अवमूल्यन का प्रमाण है। हिंदी का प्रवासी साहित्य एक नई साहित्यिक रचना-शैली की सर्जना कर सकता है। यदि प्रवासी हिंदी लेखक अपने परदेश की साहित्यिक परम्पराओं तथा वहाँ की आधुनिक साहित्य प्रवृत्तियों का संगम हिंदी रचनाओं के साथ कर सकें तो हिंदी पाठकों को एक नई संवेदना एवं नई संरचना का आनंद मिल सकता है।

गोयनका जी विदेशों में रचे जा रहे साहित्य पर एक मोहर सी लगा दी गई है कि वह 'नॉसटेल्जिया ' साहित्य है। आप ने भी कहा कि 'इस प्रवासी साहित्य में निश्चय ही नॉसटेल्जिया है।' क्या साहित्य सृजन के लिए विषयों की कोई कसौटी है ? 'नॉसटेल्जिया' साहित्य में वर्जित है ? अगर हम हिन्दी साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालें तो बहुत सा साहित्य उसी स्थान, परिवेश और लोगों को लेकर लिखा गया है जहाँ से लेखक आया होता है, जहाँ से लेखक 'बिलोंग' करता है , चाहे वह गाँव छोड़ कर नगर में आ जाए या नगर छोड़ कर महानगर में चला जाए। मैं साहित्य को जो थोड़ा बहुत जान पाई हूँ कि साहित्य संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है और संवेदनाओं की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती, हाँ, उनको ट्रीट कैसे किया गया है और लेखक के शिल्प और किस कुशलता से उसकी अभिव्यक्ति हुई है उसकी परख होनी चाहिए।

सुधा जी, मैंने भारतवंशियों के भारतेतर देशों में रचे साहित्य को 'नॉसटेल्जिया साहित्य' नहीं कहा और उस पर न ही इसकी मोहर लगाई है। यह आरोप तो प्रगतिशील लेखक लगाकर उसकी अवमानना करना चाहते हैं। मेरा यह विचार है कि प्रवासी साहित्य में 'नॉसटेल्जिया' एक प्रवृत्ति है और प्रवासी लेखकों में मिलती है, परन्तु यह प्रवृत्ति तो आपको हर भाषा तथा हर देश के साहित्य में मिलेगी, मॉरिशस के महात्मा गाँधी इंस्टीटयूट में हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डॉ. राजरानी गोविन ने तो अपना शोध- प्रबन्ध हिन्दी काव्य में 'नॉसटेल्जिया' में ही लिखा है और वह दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएँच. डी के लिए स्वीकृत हुआ। हिन्दी में जो आलोचक 'नॉसटेल्जिया' की आलोचना करते हैं वे मनुष्य की अपनी भूमि, परिवार, आँचल, प्रकृति आदि से जुड़े रहने की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ लगते हैं। अतः मेरा दृढ़ मत है कि साहित्य में 'नॉसटेल्जिया' वर्जित नहीं हो सकता है। यह मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। यदि कोई कवि या लेखक 'नॉसटेल्जिया' में जीवित रहता है तो हम इसी कारण उसकी आलोचना नहीं कर सकते। लेखक जब अतीत जीवी होता है तब भी वह वर्तमान से ही देखता है। इसलिए साहित्य में कोई विषय वर्जित नहीं है, इसका द्वार तो मनुष्य ही नहीं जीव-सृष्टि और ब्रह्माण्ड की सभी दिशाओं तक खुलता है। अब तो साहित्य में वर्जनाओं की जंजीरें टूट चुकी हैं। संस्कृत आचार्यों ने नाटक और काव्य में जो वर्जनाएँ स्थापित की थीं वे सब टूट चुकी हैं।

मैं पूर्णतः आप से सहमत हूँ कि लेखक जिस परिवेश, प्रकृति और समाज के बीच रह कर बड़ा हुआ है तथा लेखनी पकड़ी है, उसका प्रतिबिंब उसके साहित्य में अवश्य आएगा। हिन्दी में अनेक लेखक गाँव से शहर में आए हैं और उनके साहित्य में गाँव की सुगन्ध मिलेगी। लेखक अपने परिवेश और समाज में जी कर उसे ही अपनी संवेदनाओं का आधार बनाता है। इस पर भी लेखक गाँव से शहर, शहर से गाँव, भारत से अमेरिका आदि कहीं की भी संवेदनाओं, कथाओं, पात्रों और समस्याओं को अपने साहित्य में स्थान दे सकता है। निश्चय ही संवेदनाओं की कोई सीमा नहीं, वे सीमा रहित हैं, उनकी कोई परिधि नहीं,

ISSN 2320-7728

उन पर कोई बन्धन नहीं। जहाँ तक परख का सवाल है, मूल्यांकन में उसका कथांचल, परिवेश के साथ उसका मंतव्य तथा अभिव्यक्ति के स्वरूप आदि सभी को देखना होगा। आलोचना एवं सही मूल्यांकन में संवेदना के साथ उसके ट्रीटमेंट दोनों को ही देखना होगा। साहित्य का एक सिद्धांत है--वस्तु ही अभिव्यक्ति के स्वरूप को तय करती है। वस्तु अर्थात् संवेदना के स्वरूप के मर्म को जाने बिना उसकी अभिव्यक्ति का मूल्याँकन कैसे हो सकता है ? अतः जब भी हिन्दी के प्रवासी साहित्य का मूल्याँकन होगा, हमें प्रवासी संवेदना की कसौटी से ही उसकी परीक्षा करनी होगी।

गोयनका जी, कहीं ऐसा तो नहीं कि पत्रिकाओं के संपादक प्रवासी विशेषण का प्रयोग पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए करते हैं -------

यह सत्य है कि विदेशों में रचा साहित्य जब हिंदी में 'प्रवासी कहानी', 'प्रवासी उपन्यास' या 'प्रवासी कविता' के रूप में आता है तो वह पाठकों का ध्यान ज्यादा आकर्षित करता है। हिंदी समाज विदेशों में रहने वाले अपने देशवासियों के जीवन को जानना चाहते हैं, उसे समझना चाहते हैं और स्वाभाविक भी है कि उनके मन में विदेश के प्रति उत्सुकता, जिज्ञासा और ललक बढ़ती है और वह समझने लगता है कि विदेशों में सब कुछ स्वर्ग-तुल्य ही नहीं है। वहाँ का जीवन-संघर्ष कठोर, एकांत एवं काफी अनुशासित है तथा वहाँ डालर पेड़ पर नहीं लगते। उन्हें जीवन को अर्पित करके ही पाया जा सकता है। हिंदी का प्रवासी साहित्य भारतीय पाठकों को प्रवासी जीवन की कठोर तथा भयावह वास्तविकताओं से परिचित कराता है और इसकी भी अनुभूति कराता है कि उपयुक्त ज्ञान और योग्यता से ही जीवन की उच्चता तक पहुँचा जा सकता है। वहाँ प्रवासी भारतीय में पश्चिम और पूर्व का जो द्वन्द्व है तथा एक सर्वथा नई संस्कृति में जीने की जो विवशता है तथा अपनी अस्मिता और अपनी पहचान खो जाने का जो भय है, वह भी हिंदी पाठकों की अनुभूति का अंग बनता है और वह अपने देश और संस्कृति के प्रति अधिक समर्पित तथा सम्मान का भाव रखता है। भारत के पाठकों के लिए प्रवासी साहित्य का यह योगदान कम नहीं है और यह तभी संभव है जब हम हिंदी के प्रवासी साहित्य को प्रवासी-साहित्य के रूप में पढ़ें और समझें।

श्री मुरली मनोहर जोशी से सम्मानित

हाँ, आप सब को---इस प्रवासी साहित्य में जो साहित्य है तथा जो कूड़ा-करकट है, उसकी छटाई उसी तरह से करनी चाहिए जैसे हम भारत के हिंदी साहित्य में करते हैं।

जो शब्द इतनी चर्चा में है--उसका उद्भव और उद्भावक जरूर जानने की इच्छा है, आप ने तो प्रवासी साहित्य पर अनगिनत पुस्तकें लिखी हैं, इस शब्द पर शोध जरूर किया होगा।

मैंने इस विषय में शोध तो नहीं किया है, किन्तु मेरे पास जो जानकारी है वह मैं आप को बता देता हूँ। महात्मा गाँधी और उस समय अनेक भारतीय उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड गए थे, तब 'इम्मीग्रेशन' के अर्थ में 'अप्रवासी' एवं 'प्रवासी' शब्दों का प्रयोग शुरू हुआ। गाँधी जब दक्षिण अफ्रीका गए और वहाँ कई वर्ष तक रहे तो उन्होंने वहाँ के प्रवासी भारतीय के स्वाभिमान और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया और तब समाचार-पत्रों तथा राजनीति में 'अप्रवासी' तथा 'प्रवासी' शब्दों का प्रयोग बार-बार होने लगा और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में ये शब्द भारतीय जनमानस और समाचार-पत्रों में प्रचलित होने लगे। डॉ. कामिल बुल्के ने अपने अंग्रेजी-हिंदी शब्दकोष में 'इम्मीग्रेशन' के लिए आप्रवास तथा 'इम्मिग्रेंट' को 'अप्रवासी' कहा है, लेकिन अब स्थिति यह है कि हिंदी में 'अप्रवासी' और 'प्रवासी' दोनों का ही प्रयोग होता है और दोनों की अर्थ -व्यंजना में भी कोई अन्तर नहीं रह गया है।

हाँ, भारत में उस प्रवासी संसार के प्रति जिज्ञासा और उसके दुःख-दर्द को जनता तक पहुँचाने के लिए साहित्य का सहारा सबसे पहले प्रसिद्ध लेखक पं. बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिया। कुछ संयोग ऐसा हुआ कि उनकी भेंट 15 जून, 1914 को पं. तोताराम से हुई जो 21 वर्ष फिजी में

ISSN 2320-7728

रहकर लौटे थे। चतुर्वेदी जी ने 15 दिन तक उनके संस्मरण लिखे जो सन् 1914 में ही 'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इसके उपरांत पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'प्रवासी भारतवासी'(1918), 'फिजी में भारतीय' तथा 'फिजी की समस्या' पुस्तकें लिखीं और वहाँ के प्रवासी भारतीय मजदूरों की समस्याओं की ओर देश का ध्यान आकर्षित किया। गाँधी के भारत आगमन पर चतुर्वेदी उनके संपर्क में आए और उन्होंने गाँधी से कांग्रेस का 'प्रवासी विभाग' खोलने का आग्रह किया। कांग्रेस के सन् 1922 के अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ और इसकी कमेटी में केवल नेताओं को रखा गया। स्वाभाविक था, कांग्रेसी नेताओं की प्रवासी-संसार में कोई रूचि नहीं थी। चतुर्वेदी ने गाँधी से शिकायत की तो गाँधी ने उनसे कहा कि कांग्रेस वाले स्वयं तो कुछ करेंगे नहीं और न तुम्हें ही करने देंगे। आगे चलकर कलकत्ता कांग्रेस में पं. जवाहरलाल नेहरु के प्रस्ताव पर 'प्रवासी विभाग' का गठन हुआ, लेकिन इस बार भी कुछ काम नहीं हुआ और चतुर्वेदी का 'प्रवासी-भवन' के निर्माण का स्वप्न साकार नहीं हुआ।

आप द्वारा दी गई जानकारी से मालूम हुआ कि स्वतंत्रता से पूर्व भी कई भारतीय लेखकों ने विदेशों में रचे जा रहे हिन्दी साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था।

सुधा जी, यह वह समय था जब 'चाँद', 'मर्यादा', 'माधुरी' आदि हिंदी पत्रिकाओं में मॉरिशस, फिजी आदि देशों में गए भारतीय मजदूरों के जीवन के बारे में यदाकदा लेख छपते रहते थे। 'चाँद' मासिक पत्रिका ने अपना जनवरी, 1923 का अंक 'प्रवासी अंक' के नाम से प्रकाशित किया और इसमें मॉरिशस के प्रवासी भारतीय मजदूरों के यातनामय जीवन पर प्रेमचंद की कहानी' 'शूद्रा' प्रकाशित हुई जो भारत के प्रवासियों पर लिखी गई हिंदी की पहली कहानी थी। 'चाँद' के इस अंक से तथा प्रेमचंद जैसे विख्यात कहानीकार की कहानी छपने से प्रवासियों को मुख्यधारा में लाने की चेष्टा की गई, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि देश के स्वाधीनता संग्राम आन्दोलन, दूसरे विश्व-युद्ध, गाँधी के 'करो या मरो' आन्दोलन, देश के विभाजन आदि में प्रवासी-संसार कहीं खो गया और काफी समय तक अदृश्य बना रहा। मॉरिशस सन 1968 में स्वतंत्र हुआ तो लेखकों एवं जनता का उसके प्रति आकर्षण बढ़ा और जब कैप्टन भगवान् सिंह फिजी में भारत के राजदूत बने तो फिजी से संपर्क बढ़ा। इसी प्रकार इंग्लैंड में डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के उच्चायुक्त बनने पर वहाँ के प्रवासी हिंदी साहित्य के विकास का नया युग शुरू हुआ। भारत सरकार ने डॉ. सिंघवी को प्रवासी भारतीयों की समस्याओं के हल करने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति का अध्यक्ष बनाया और उन्होंने 'डायस्पोरा रिपोर्ट' प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट को सरकार ने स्वीकार किया और 9-11 जनवरी, 2003 को पहला 'प्रवासी भारतीय दिवस' आयोजित किया और इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रवासियों के साथ प्रवासी साहित्य एवं संस्कृति के प्रति देश में नई चेतना, नई प्रतिबद्धता और एक नई संवेदना का उदय हुआ।

निष्कर्ष यह निकला कि 'प्रवासी-साहित्य' के उद्‌भव और विकास में गाँधी जी, बनारसीदास चतुर्वेदी, लक्ष्मी मल्ल सिंघवी जैसे महान् व्यक्ति और 'चाँद' पत्रिकाएँ आदि रहे हैं।

और मेरी बात का यकीन कीजिए-- इसके पीछे कोई साजिश, छल-कपट नहीं। किन्हीं लेखकों को प्रतिष्ठित करने तथा कुछ को हाशिये पर डालने के लिए यह नहीं हुआ था। प्रवासी हिंदी साहित्य समय की आवश्यकता थी। गाँधी प्रवासी भारतीयों के दुःख-दर्द से मुक्ति की लड़ाई लड़ रहे थे और मॉरिशस में सूर्यप्रसाद मंगर भगत, विष्णुदयाल, मधुकर, बखोरी आदि की एक पूरी पीढ़ी हिंदी में साहित्य-रचना में प्रवृत्त हो रही थी। अभिमन्यु अनत की औपन्यासिक, कविता, नाटक आदि की कृतियों के निरंतर प्रकाशित होने से भारत में प्रवासी साहित्य के प्रति उत्सुकता और पठनीयता में तीव्रता आई और फिर अमेरिका, इंग्लैंड के हिंदी लेखकों की कृतियों और पत्रिकाओं के प्रकाशन से इसकी गति में वृद्धि हुई और अब 'प्रवासी साहित्य' हिंदी की एक वास्तविकता बन गई है।

अब 21वीं सदी में मॉरिशस के साथ अमेरिका, कैनेडा, इंग्लैण्ड, नार्वे, नीदरलैंड, आबूधाबी आदि देश भी साहित्य की रचना में प्रमुख रूप से शामिल हो गए हैं। विदेशों में लिखे जा रहे हिन्दी साहित्य का विस्तार हो रहा है। उसका एक संसार बन चुका है, बस उसमें अब नई पीढ़ी को लाने की आवश्कता है। हिन्दी के इस साहित्य का रंग रूप, उसकी चेतना, संवेदना एवं सृजन प्रक्रिया भारत के हिन्दी पाठकों के लिए एक नई वस्तु है, एक नए भावबोध एवं नए सरोकार का साहित्य है। एक नई व्याकुलता, बेचैनी तथा एक नए अस्तित्व बोध व आत्मबोध का साहित्य है; जो हिन्दी

ISSN 2320-7728

साहित्य को अपनी मौलिकता एवं नए साहित्य संसार से समृद्ध करता है। विदेशों में रहने वाले हिन्दी के साहित्यकार अपने देश के प्रति अधिक सजग एवं समर्पित हैं। इस साहित्य में एक ऐसी भारतीयता है जो स्वदेश -परदेश के द्वन्द्व से जन्म लेती है और एक नया परिवेश, एक नई जीवन दृष्टि तथा जीवन जीने का नया सरोकार देती है। हिन्दी की मुख्य धारा का यह साहित्य अंग है और अपनी पहचान भी रखता है।

गोयनका जी, मैं विषय परिवर्तन कर रही हूँ। प्रवासी साहित्य के बारे में खूब जानकारी ले ली। अब मैं स्त्री-विमर्श की ओर मुड़ती हूँ। स्त्री-विमर्श की तमाम बातों के बीच अक्सर ग्रामीण स्त्रियाँ, दलित स्त्रियाँ, आदिवासी स्त्रियाँ और मुस्लिम स्त्रियों की भागीदारी कम महसूस होती है। आप क्या सोचते हैं?

साहित्य में ऐसा कभी नहीं हुआ कि आधी आबादी की सत्ता शून्य रही हो। 'रामायण' और 'महाभारत' में स्त्री की स्थिति एवं सत्ता तथा उनके शील-सम्मान की रक्षा के लिए पुरुषों द्वारा किए गए महायुद्धों की हमें जानकारी है। आधुनिक काल में 'साकेत', 'कामायनी', 'गो-दान' आदि में भी हमें एक स्त्री-विमर्श दिखाई देता है। आधुनिक समय में लेखिकाओं की भी बड़ी संख्या देखी जा सकती है जो स्त्री के विविध पक्षों का अपनी रचनाओं में उद्घाटन कर रही हैं। हिन्दी में स्त्री-विमर्श पर बराबर बहस हो रही है और ग्रामीण, दलित एवं आदिवासी स्त्रियों को भी स्थान मिल रहा है, यह अलग बात है कि यह उस मात्रा में नहीं है जितना आप अपेक्षित समझती हैं। इधर मैंने, 'कुच्ची का कानून' कहानी पढ़ी है, जिसमें एक ग्रामीण स्त्री अपनी कोख पर अपने अधिकार का बड़ा प्रश्न उठाती है। मुझे इस समय देश में स्त्री-चेतना का विस्तार दिखाई देता है और सर्वत्र स्त्री-जाग्रति दिखाई देती है। स्वाभाविक है, इस स्त्री-जाग्रति में देश के विभिन्न वर्गों की स्त्रियों के चेहरे अवश्य ही दिखाई देंगे।

क्या आपको नहीं लगता कि स्त्री की शारीरिक कमजोरी को जो कि प्राकृतिक है, पुरूष सत्ता ने उसके शोषण का प्रमुख हथियार बना लिया है जो सदियों से आज तक उसी रूप में जारी है। इस पुरूष मानसिकता को किस प्रकार बदला जा सकता है?

आपने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा है, परन्तु इसके उत्तर में प्रकृति के सत्य को देखना एवं समझना होगा। आपने स्त्री की शारीरिक कमजोरी को प्रकृतिदत्त माना है कि जो सत्य है। पुरुष की शारीरिक सबलता और स्त्री की शारीरिक दुर्बलता प्रकृति की रचना का परिणाम है अतः इस वास्तविकता को ध्यान में रखकर ही कार्य क्षेत्र तय कर दिया था। पुरुष अपनी शक्ति से भोजन, सुरक्षा आदि का कार्य करता था और स्त्री संतानोत्पत्ति एवं परिवार की रचना करती थी और इस प्रकार मानव-संस्कृति के निर्माण में दोनों एक -दूसरे के पूरक थे। एक और तथ्य पर आप विचार करें- प्रकृति ने पुरूष को आक्रमक (Offensive)तथा स्त्री को सुरक्षात्मक (Defensive) बनाया है। यदि दोनों ही आक्रमक अथवा सुरक्षात्मक होते तो मानव संस्कृति का वर्तमान स्वरूप नहीं होता। अब आपकी बात, प्रकृति में शाक्तिशाली दुर्बल को दबाता रहा है, उसे अपना भोजन बनाता रहा है, लेकिन पुरुष ने संस्कृति के विकास के साथ सीखा है कि स्त्री शारीरिक रूप से कमजोर है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य जीवों के समान उसका भक्षण करे, शोषण-दमन करे। यह सच है कि पुरुष अपनी सशक्तता का अनेक बार दुरुपयोग करता है। स्त्री को दासी समझने लगता है और यह भारत में ही नहीं अनेक देशों में होता है, बल्कि मुस्लिम परिवारों में तो स्त्री तलाक के भय के कारण सारा जीवन पुरुष की दासता में निकाल देती है, परन्तु शिक्षा के साथ तथा मानवाधिकार आंदोलन के कारण एवं आधुनिक जीवन की परिस्थितियों के कारण भारतीय पुरुष स्त्री की सत्ता की महत्ता को समझने लगा है और वह सहयोगी व

श्रीमती इन्दिरा गाँधी 'प्रेमचंद विश्वकोश' का अवलोकन करते हुए।

ISSN 2320-7728

सहचर बनने का प्रयत्न कर रहा है। इस समस्या का हल भारतीय दर्शन 'अर्द्धनारीश्वर' में है; जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों समान हैं, वहीं पुरुष अपनी सबलता से श्रेष्ठ नहीं है और स्त्री अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण निम्न नहीं है।

आप देश-विदेश घूमे हैं। आपने स्त्रियों की स्थिति में क्या अंतर पाया है?

हमारा समय भूमंडलीकरण का है और विश्व एक गाँव के रूप में सिकुड़ गया है परन्तु अनेक देशों की अपनी-अपनी विशिष्टता अभी भूमंडलीकरण में विलीन नहीं हुई है। ब्रिटेन का भी योरीपीय संघ से अलग होना इसका प्रमाण है कि वह अपने राष्ट्रीय चरित्र को बचाये रखना चाहता है। यही स्थिति भारत की है। इस समय भारत पश्चिमी सभ्यता के गहरे दवाब में है और इंटरनेट, मोबाइल आदि ने तो विश्व की गंदी-से गंदी चीजों को भारत में उपलब्ध करा दिया है; जिनका प्रभाव हमारे समाज पर पड़ रहा है। असल में अंग्रेजी शासन के साथ ही भारत में पश्चिमी सभ्यता की प्रवृत्तियाँ भी आने लगी थीं। प्रेमचंद ने बम्बई से लौटकर 'मिस पद्मा' तथा'जीवन का शाप' कहानियाँ लिखी थी। इनमें 'मिस पद्मा' में 'लिव-इन-रिलेशनशिप' की कहानी है और 'जीवन का शाप' में पुरुषों के समान स्त्रियाँ परपुरुषों के साथ यौन संबंधों को उचित मानती हैं। स्वतंत्रता के बाद और अब तक भारतीय स्त्री ने स्वतंत्रता के साथ विविध क्षेत्रों में उन्नति की है तथा कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ भारतीय स्त्री ने अपनी उपस्थिति अंकित न की हो। अब तो वे प्रतियोगी परीक्षाओं में पुरुषों को पछाड़ने लगी है और लड़ाकू विमान तक चला रही हैं और सेना में भरती हो रही हैं। इधर स्त्री अपने शरीर का भी उपयोग कर रही है और राजेन्द्र यादव के अनुसार स्त्री के पास अपना शरीर है और वह इसका उपयोग करके आगे बढ़ रही है। भारत में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है, परन्तु समाज में यौन शुचिता, संयम, मर्यादा आदि खत्म नहीं हुए हैं। भारत और अमेरिका में स्त्री की स्थिति तथा पुरुष की मनोदशा के अंतर का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। मैं सपत्नीक अपने बेटे के पास अमेरिका गया था, तब बेटे ने कुछ मित्रों को बुलाया हुआ था। एक अमेरिकी युगल से परिचय हुआ तो मैंने अपनी पत्नी कुसुम गोयनका का उनसे परिचय कराया तो उस अमेरिकन ने मुझसे पूछा कि यह आपकी कौन-सी पत्नी हैं? मैंने उत्तर दिया कि हम पति-पत्नी के रूप में 50 वर्षों से एक साथ रह रहे हैं तो वह आश्चर्य चकित रह गया और

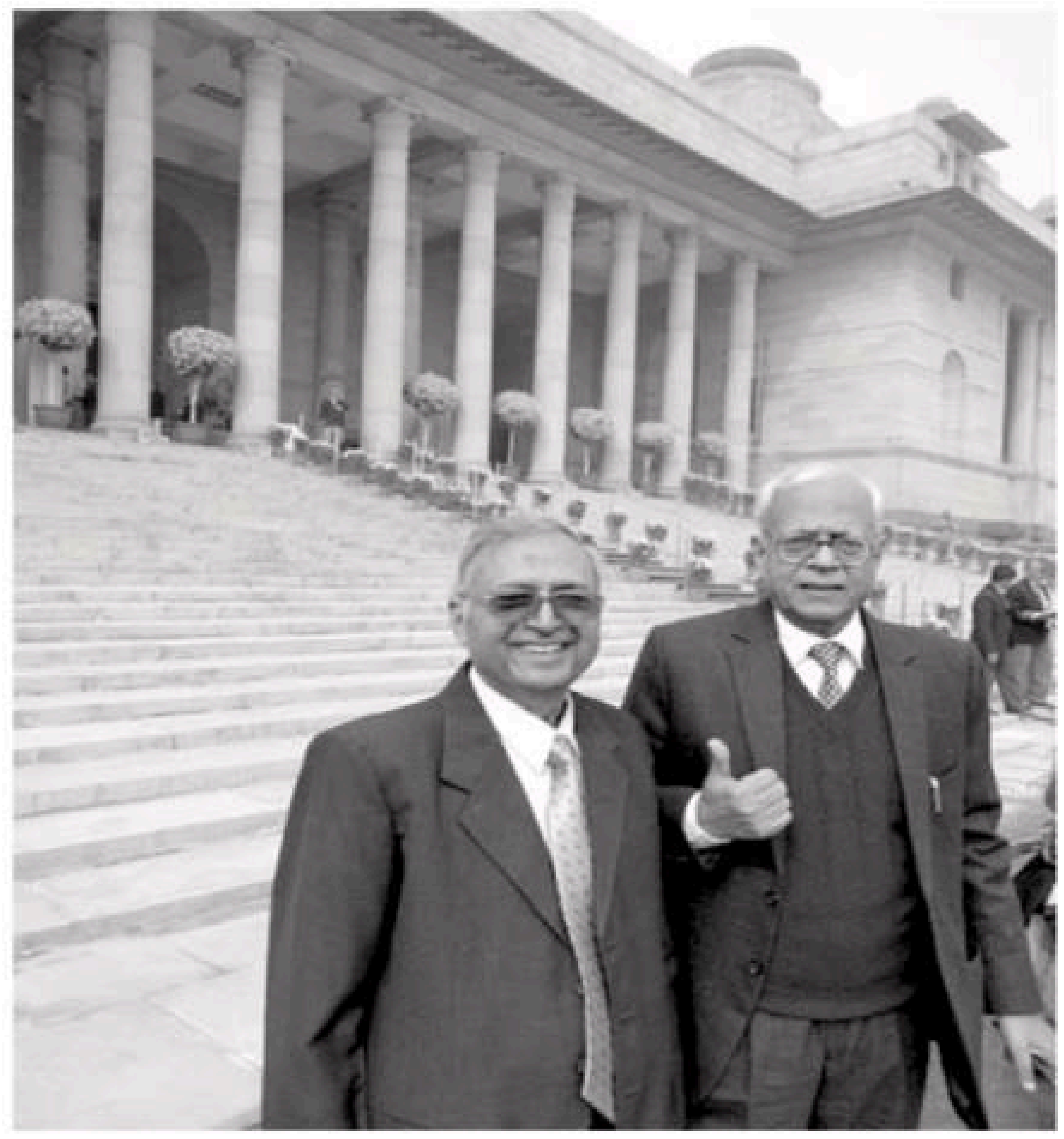

मेरी मूर्खता (?) पर हँसते हुए बोला कि यह असम्भव है। उसने फिर अपनी पत्नी से हमारा परिचय कराया और कहा कि यह मेरी सातवीं पत्नी है। मैं छः को तलाक दे चुका हूँ । मैंने कहा कि आप पति-पत्नी का सात जन्मों तक साथ रहने का दर्शन नहीं समझ सकते। इसी प्रकार अमेरिका के एक प्रवासी हिन्दी लेखक की कहानी में माँ और बेटी एक साथ अपने अपने बॉय फ्रेंड से मिलने को तैयार होती हैं और बेटी माँ को सुसज्जित करती है। भारत अभी इस स्त्री-मुक्ति तथा यौन-स्वाधीनता से बचा हुआ है ।

आप आजकल केंदीय हिन्दी शिक्षण मंडल तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के उपाध्यक्ष हैं। इस पद को सँभाल कर आप क्या ठोस कदम उठा रहे हैं; जिसमें कुछ परिवर्तन आ सकें।

ये संस्थाएँ भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन हैं। इस मंत्रालय का मंत्री इनका अध्यक्ष होता है और उपाध्यक्ष इनकी देखभाल करता है तथा अध्यक्ष को आवश्यक जानकारी देता है। संस्थान विदेशी छात्रों को एवं अहिन्दी क्षेत्रों के विद्यार्थियों को हिन्दी का शिक्षण देता है। भारत सरकार की नीति के अनुसार पूर्वोत्तर भारत के मेघालय प्रांत के नगर शिलांग में कुछ मास पूर्व नए भवन का शिलान्यास पूर्व मंत्री श्रीमती स्मृति ईरानी ने किया है और जम्मू में हिन्दी शिक्षण केन्द्र स्थापित करने का निर्णय किया है। अभी 23-31 जुलाई को मैं श्रीलंका गया था यह देखने के लिए कि वहाँ हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए क्या

ISSN 2320-7728

हो सकता है। वहाँ यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि युवक-युवतियों में हिन्दी का क्रेज़ है और वे हिन्दी सीखने के लिए उत्साही हैं और भारत आना चाहते हैं। उन युवकों-युवतियों ने स्पष्ट कहा कि श्रीलंका में हिन्दी की क्रेज है। हम श्रीलंका में दो हिन्दी शिक्षण केन्द्र खोलने पर विचार कर रहे हैं। मैंने पद-भार ग्रहण करने के बाद कई बंद योजनाएँ शुरू कराई हैं और हिन्दी लघु ज्ञान कोश के तीन खंड इस वर्ष के अंत तक प्रकाशित हो जाएँगे। शेष सात खंडों पर कार्य हो रहा है और हमें देश के प्रतिष्ठित विद्वानों का सहयोग मिल रहा है। केन्द्रीय हिन्दी संस्थान मेरे आने तक 14 हिन्दी विद्वानों, लेखकों, प्रचारकों को एक-एक लाख के पुरस्कार देता था, परन्तु अब इनकी संख्या 26 है तथा राशि भी एक लाख से पाँच लाख हो गई है। यह एक बड़ी उपलब्धि है। हम अब अहमदाबाद, हैदराबाद, गुवाहाटी आदि स्थानों पर अपने भवन बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, एक नए हॉस्टल का भी प्रस्ताव सरकार को भेजा है, विदेशी छात्रों की संख्या बढ़ाने के लिए भी कोशिश में हैं। अभी विदेशी छात्रों की छात्रवृत्ति में वृद्धि की है। मॉरिशस के हिन्दी अध्यापकों के लिए रिफ्रेशर कोर्स भी शुरू होने जा रहा है। कुछ प्रशासन को भी ठीक किया है और इन सब कार्यों में वर्तमान निदेशक प्रो-नंदकिशोर पांडेय यथा शक्ति कार्य कर रहे हैं। आप यह जान लें कि लोक सभा में तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री स्मृति ईरानी ने केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के कार्यों की प्रशंसा की थी।

गोयनका जी, आप अनेक कार्यों से जुड़े हैं। मैं जानना चाहती हूँ कि अन्य गतिविधियों में आपकी प्रमुख गतिविधियाँ क्या हैं?

सुधा जी, मैं भारत सरकार की संस्था 'राजाराम मोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन' कोलकता की पुस्तक क्रय-समिति का सदस्य हूँ। मेरे साथ 8-9 और सदस्य भी हैं। हमनें पुस्तक खरीद में होने वाले भ्रष्टाचार को समूल रूप में समाप्त कर दिया है। अब पुस्तक किसी लोभ-लालच, किसी दवाब तथा निजी स्वार्थ के कारण नहीं खरीदी जाती है। अब पुस्तक की मेरिट ही उसके खरीदने का आधार है, इससे देश के छोटे-छोटे प्रकाशकों की पुस्तकें भी खरीदी गई हैं जिन्होंने कभी सोचा भी नहीं था कि उनकी पुस्तक कभी राजाराम मोहन राय लाइब्रेरी में खरीदी जाएगी। इसका सर्वत्र स्वागत हुआ है और हमें खुशी है कि अब अच्छी पुस्तकें देश की विभिन्न लाइब्रेरी में पहुँच सकेंगी। मैं अपने साहित्यिक कार्यों में भी व्यस्त रहता हूँ। अभी हिन्दी प्रवासी साहित्य के तीन खंड छापे हैं, 'गो-दान' का प्रथम संस्करण छपा है, 'नया मानसरोवर' (आठ खंड) प्रेस में है और कई पुस्तकों के नये संस्करण हो रहे हैं। अभी पेरिस में होने वाली संगोष्ठी का निमंत्रण है, मॉरिशस भी जाना है। लेखादि तो लिखता ही रहता हूँ। तीन नई पुस्तकें तैयार कर रहा हूँ। मैं 11 अक्टूबर को 78 वर्ष का हो जाऊँगा। अब गतिविधियों पर ब्रेक तो लगाना होगा।

आप कुछ-न-कुछ नया करते रहते हैं। इधर नया क्या करने की योजनाएँ हैं।

नव्यता जीवन को गतिशील बनाती है। आयु का बंधन रोकता है, परन्तु उत्साह कम नहीं होता । अभी कई कार्य बाकी हैं- 'प्रेमचंद विश्वकोश' के शेष खंड पूरे करने हैं, 'प्रेमचंद उपन्यास रचनावली' पूरी करनी है तथा कई पुस्तकें प्रेस में जानी हैं। शरीर ने साथ दिया तो शेष बचे काम पूरा करके ईश्वर के पास जाना चाहूँगा । ईश्वर से मेरे लिए प्रार्थना करें।

डॉ. साहब हमारी शुभकामनाएँ और प्रार्थनाएँ हर पल आपके साथ हैं।

डॉ. कमल किशोर गोयनका जी से बात करना हमेशा सुखद रहा है। समुद्र की अथाह गहराई तक उतरने जैसा है। समय-समय पर जो हीरे-जवाहरात मेरे हाथ लगेंगे उन्हें आप तक पहुँचाती रहूँगी। ■

e-mail: sudhadrishti@gmail.com

ISSN 2320-7728